श्री वीतरागाय नमः ।

जैन धर्म की विशेषतायें ।

ट्रैक्ट नं०

मूल बंगला लेखक —

श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती काव्यतीर्थ, बी० ए०।

अनुवादक-

पंडित रामचरितजी उपाध्याय ।

प्रकाशक-

मंत्री—श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी,

अंबाला शहर ।

वीर संवत् २४५३ | मूल्य =) | विक्रम संवत् १९८४

आत्म संवत् ३२ | | ईस्वी सन् १९२७

मुद्रक—नारायणदत्त उपाध्याय,
सरस्वती प्रिन्टिंग प्रेस, बेलनगंज-आगरा।

श्रीवीतरागाय नम ।

जैनधर्म की विशेषतायें ।

पहले पहल जब मैंने जैनधर्म की आलोचना करने के अभिप्राय से जैन शास्त्र के ग्रन्थों को पढना आरम्भ किया तो मेरे कई एक विशेष मित्रो ने कहा कि "बौद्धधर्म के सम्बन्ध में अनेक देशों के पंडितों ने जैसी तरह तरह की पांडित्य पूर्ण आलोचना की हैं, वैसी बहुत आलोचना जैनधर्म के सम्बन्ध मे नहीं हुई है, क्योंकि जैनधर्म में आलोचना करने के उपयोगी वैसे उत्तम या मौलिक विषय नहीं देखे जाते"। आज तक हमें जैन धर्मावलम्बियों के विशाल शास्त्रीय ग्रन्थ भंडार मे से जिन थोडे बहुत संस्कृत या प्राकृत ग्रन्थों के पढने का अवसर मिला है, उन्हीं से एक तरह की मेरी धारणा हुई कि पूर्वोक्त हमारे मित्रों की राय सच नहीं है। हमने अच्छी तरह समझ लिया है कि हमारे देश के पंडित लोग जैनधर्म के सम्बन्ध मे जो धारणा अपने हृदय मे रखते हैं, उस से उन लोगों के जैनधर्म के सम्बन्ध में वैसी आलोचना करने का अभावही सूचित होता है। मतलब यह कि जो कोई मनुष्य निष्पक्ष चित्त से और स्थिर-भाव से जैनों के शास्त्र ग्रन्थों की आलोचना करेगा, वह साफ २ समझ लेगा कि इन ग्रन्थों में

समझने और भावना करने की बहुत सी बातें हैं—वह समझ लेगा कि जैनों के शास्त्रीय ग्रन्थ केवल प्राचीन पहले से चले हुए मत और भावों के चर्वित चर्वण या पिष्ट पेषण से फल नहीं हैं, बल्कि उनमें स्वाधीन चिन्ता की धारा और मौलिक खोज का विशेष निदर्शन देखने को मिलता है। जैन शास्त्र की उन्हीं सब स्वाधीन चिन्ताओं की परिचायक विशेषताओं की ओर स्थूल भाव से सर्वसाधारण की दृष्टि आकर्षण करने के उद्देश्य से इस प्रबन्ध की अवतारणा की जाती है। जैन धर्म के सम्बन्ध में ब्राह्मण धर्मावलम्बी वर्तमान लेखक के तनिक भी पक्षपात की शंका करने का कोई कारण नहीं, अत एव इस सम्बन्ध में हमारी राय सर्वसाधारण का आलोच्य विषय होने के योग्य है, ऐसा कहा जा सकता है। जो हो, छोटे प्रबन्ध के लिए बहुत बड़ा मुख बन्ध न लिख कर अब अपने विषय की आलोचना करनी चाहिये।

जैनधर्म और जैन दर्शन की सब से अच्छी सम्पत्ति "स्याद्वाद" है। किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने के लिए जैन दार्शनिकों ने "स्याद्वाद" रूप जिस नवीन पद्धति का आविष्कार किया है, वह सचमुच उनकी ... चिन्ता-शीलता का परिचय देती हैं। जैन दार्शनिकों ने

रूप से समझ लिया है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में किसी एक मात्र धर्म का आरोप करने से उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता, विभिन्न दिशाओं से देखने पर एक ही वस्तु में विभिन्न रूप धर्म का समावेश देखने में आता है। हमने किसी एक दिशा से देख कर किसी वस्तु विशेष में किसी एक धर्म का आरोप किया किन्तु कोई दूसरा मनुष्य दूसरी दिशा से देख कर उसी वस्तु में पूर्ण रूप से दूसरी वस्तु का आरोप कर सकता है। इस से हम दोनों ही आदमियों में से किसी एक का भी मत पूर्ण रूप से भ्रम-पूर्ण नहीं हो सकता। हां, यदि सत्य कहा जाय तो ऐसे क्षेत्रमें इस तरह के दो मनुष्यों के बीच में किसी एक का भी मत बिल्कुल सत्य नहा हो सकता।

एक उदाहरण से ही हमारा कहना बहुत सरल हो जायगा। किसी एक मँझले कद के आदमी को देख कर किसी ने उसकी तुलना एक छोटे से लड़के के साथ करके कहा कि वह बड़ा है। दूसरे किसी आदमी ने एक बहुत लम्बे आदमी के साथ उसकी तुलना करके कहा कि वह बड़ा नहीं है। यहा पर यह साफ तौर पर मालूम होता है कि इन दोनों आदमियों में से किसी की भी बात बिल्कुल सत्य न होने पर भी एक

हम भ्रम से भरी हुई भी नहीं है । हम देखते हैं कि बड़ा और छोटाई आपेक्षिक धर्म है—एक की अपेक्षा जो बड़ा है वही दूसर की अपेक्षा छोटा है । इसलिए किसी वस्तु' यथार्थ रूप का निर्णय करने के लिए इस अपेक्षा-दृष्टि से ह उसका विचार करना पड़ेगा । अपेक्षा-दृष्टि से विचार न करा यदि एक ही भाटि के ऊपर—एक मात्र धर्म के ऊपर—आग्र रक्खा जाय तो वस्तु का यथार्थ स्वरूप कभी निर्णीत नह हो सकता ।

अपेक्षा-दृष्टि या तुलनात्मक पद्धति से यातु का निर्धारित करने की चेष्टा न करने पर वह वस्तु आंशिक में भले ही निर्णीत हो जाय किन्तु पूर्णरूप से कभी नहीं हो सकती । इस विषय का भला भांति अवधारण ही जैन दार्शनिकों ने "स्याद्वाद" या "अनेकान्तवाद" अवतारणा की । इस मत के अनुसार किसी वस्तु को एक विशेषण से विशेषित करने पर या उसमें एक मात्र धर्म आरोप करने पर उसका रूप सम्पूर्ण रूप से निर्धारित होता । इसलिए किसी वस्तु के प्रकृति स्वरूप का करने के लिए तुलनात्मक पद्धति या अपेक्षा दृष्टि से सम्बन्ध में विचार करना ठीक है । यही स्याद्वाद का मू

है। स्याद्वाद के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना करने का स्थान इस छोटे से प्रबन्ध में नहीं है। जैन-दार्शनिक स्याद्वाद की व्याख्या करने के लिए विविध ग्रन्थों मे तरह तरह की गभीर और पाण्डित्य पूर्ण आलोचना कर गए हैं। कौतूहली पाठक इस सम्बन्ध मे यदि विस्तृत विवरण जानना चाहें तो 'स्याद्वाद मंजरी' 'सप्त भंगी तरंगिणी' आदि स्याद्वाद विषय के ग्रन्थ देख सकते हैं। ❀

स्याद्वाद के संबंध में जो थोड़ा सा परिचय दिया गया है उस से साफ मालूम होता है कि जिस भित्ति पर वह स्थापित है वह कमजोर नहीं है। वस्तुत जिस युक्ति पर यह प्रतिष्ठित हुई है वह अत्यन्त संगत प्रतीत होती है। इसलिए स्याद्वाद के मूल स्वरूप की इन सब युक्ति परंपराओं की ओर लक्ष्य करने की प्रशंसा करना विशेष दोषावह नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि स्याद्वाद की चिन्ता प्रणाली के अनुरूप चिन्ता प्रणाली की सूचना प्राचीन उपनिषद् और प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में मिलती है § तथापि इतना मानना ही पड़ेगा कि सब से

❀ हमारी पुस्तक "सप्त भंगीनय" भी देखिये—मूल्य -)
—मंत्री

§ "जैन दर्शन में" स्याद्वाद—बंगीय साहित्य परिषद्, पत्रिका (१३११) पृ० ६–८।

पहले जैन दार्शनिकों ने ही इसको नवीन आकार में
के सामने रक्खा है। इसलिए इस विषय में उनका कृतित्व
चिन्ता शीलता एवं मनस्विता विशेष प्रशंसा का विषय है, इ
में सन्देह नहीं।

इसके बाद सूक्ष्मभाव से आलोचना करने पर देखा
जाता है कि व्यवहार-जगत् में या दार्शनिक विचार में भी
प्रत्यक्ष रूप से इस स्याद्वाद का प्रमाण स्वीकार किया जाय या
न किया जाय, इसके प्रवर्तित मत के अनुसार जान
या अनजान में हम लोगों को कार्य में प्रवृत्त होना पड़ेगा
व्यवहार-जगत् में भी अपेक्षा दृष्टि से वस्तु का स्वरूप-विच
ठीक है, यह स्याद्वाद वर्णन के प्रसंग में जो उदाहरण
है उसी से समझा जाता है।

और भी, यद्यपि न्यायादि दर्शनों में स्याद्वादका
स्वीकृत नहीं है तो भी स्याद्वाद का जो फल है, वह
स्पष्ट ही देखा जाता है। उपाधि भेद से एक ही वस्तु
विभिन्न धर्म का सद्भाव नैयायिक लोग मुक्तकण्ठ से
करते हैं। परमाणु उनके मत में नित्य होने पर भी परम
की समष्टि अनित्य है। जातीय परमाणु नित्य होने पर
जल के परमाणु समष्टि रूप जो जल है वह

अनित्य है, इस बात को उन लोगों ने बेधड़क स्वीकार किया है। यद्यपि साख्यकार ने पुरुषका नित्य और ससारी न होना स्वीकार किया है, तो भी प्रकृति के ससर्ग से उसकी वृद्धावस्था को स्वीकार एव अगीकार किया है। वेदान्त वाले यद्यपि निर्गुण ब्रह्म की उपासना को अतीत कह कर मानते हैं तो भी सगुण की उपास्यता और व्यावहारिकता को उन्होंने स्वीकार किया है। यह जो एक ही वस्तु में उपाधि भेद से विभिन्न धर्म का आरोप है वह स्याद्वाद के प्रतिकूल हो यह तो दूर की बात है। स्याद्वाद तो इसी सत्य का प्रचार करने के लिए पैदा हुआ है। इसलिए स्याद्वाद का प्रमाण स्वीकार करें या न करें किन्तु स्याद्वाद ने जिस सत्य का प्रचार किया है और स्याद्वाद का जो मूल तत्त्व है उसको सभी दार्शनिकों को मान लेना पडा है, इसी प्रकार व्यावहारिक जगत् में भी सभी विचार विषय में इस तत्त्व को बहुत दिनों से मानते आना पड़ा है। जैन दार्शनिकों ने उसी अखण्ड सत्य को प्रकाश करके नवीन स्याद्वाद की अवतारणा द्वारा जिस कीर्ति और जिस गौरव का अर्जन किया है वह समस्त भारत के लिये प्रशसा का विषय है।

यद्यपि दार्शनिक प्रवर शकराचार्य ने अपने वेदान्त भाष्य में स्याद्वाद के खण्डन करने का प्रयास उठाया है—यद्यपि

जैनेतर अनेक दार्शनिकों ने इसको प्रमाण नहीं माना है, किन्तु सत्य के लिए कहना पड़ता है कि उनका परिश्रम अच्छी तरह सफल नहीं हुआ है। दार्शनिक-कुल चूड़ामणि शंकराचार्य स्याद्वाद को समझ नहीं सके, यह कहना पागलपन के सिवाय और कुछ नहीं है, किन्तु यह बात सत्य है कि या तो उन्होंने स्याद्वाद की पूरी आलोचना नहीं की अथवा आलोचना करने पर भी उसे अपने पूर्ण तत्व विरोधी का मतवाद समझ कर अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया और सर्वसाधारण की दृष्टि में उसे दोष से दूषित बतला कर प्रतिपन्न करने की चेष्टा की।

फलत शंकराचार्य का किया हुआ स्याद्वाद का खण्डन ठीक नहीं हुआ है यह बात जो कोई स्याद्वाद की आलोचना करेगा उसी को स्वीकार करना होगा *। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस शंकराचार्य ने स्याद्वाद का खण्डन करने के लिये पूरा परिश्रम किया है उन्हीं के ग्रन्थ में स्याद्वाद की चिन्ता प्रणाली के अनुरूप विचार धारा देखने में आती है

* स्याद्वाद की आलोचना करके महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा, सर रामकृष्णगोपाल भाण्डारकर आदि पंडितों ने शंकराचार्यकृत स्याद्वाद खण्डन प्रयास को व्यर्थ श्रम कह कर वर्णन किया है।
सत्यार्थदर्पण–अजितकुमार शास्त्री
१०-१११-२।

यह बात स्याद्वाद विषय के जानकार लोग कहते हैं।*

भारत के सभी दर्शनशास्त्र (केवल चार्वाक के दर्शन को छोडकर) मोक्ष के उपाय की आलोचना और निर्देश करने के निमित्त ही बने हैं और प्रचलित हुये हैं। इसीलिये ये सब दर्शन धार्मिक या धर्म के आधीन हैं-इनमें कोई तो वेद में कहे हुए धर्म के अनुमोदित विषय की आलोचना मे लगे हुए हैं और कोई वेद का प्रमाण अंगीकार न करके स्वतन्त्र भाव से धर्मोत्कर्ष के उपाय के पीछे पडे हुये हैं। किन्तु उद्देश्य सबों का ही अनेक प्रकार से तुल्य है।

जैनदर्शन के सम्बध में भी ऊपर लिखी बात कही जा सकती है। जैन-दर्शन भी जैनागम के सम्मत मोक्षोपाय निर्देश करने के निमित्त ही बनाया गया है इसमें प्रसग के क्रम से आलोचित स्याद्वाद जैन पण्डितों के पाण्डित्य की पराकाष्ठा का परिचय देने पर भी वह उसी मोक्ष-लाभ के उपाय की तरह आलोचित हुआ है-केवल बाह्य जगत मे पाण्डित्य प्रकट करने के लिए ही उसका विचार किया गया है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए जीवादि तत्व का पूरा ज्ञान प्राप्त करना अति

* जैन दर्शन में स्याद्वाद-बगीय साहित्य परिषत् पत्रिका।
(१३२१) पृ० ७-८

प्रयोजनीय है और इसी जीवादि के यथार्थ स्वरूप जानने में स्याद्वाद की उपयोगिता कितनी दूर तक है, यह बात पहले ही दिखलाई जा चुकी है। इसीलिये मोक्ष विषय में स्याद्वाद की गौण उपयोगिता के कारण ही इस जैनधर्म की एक विशेषता बतलाते हैं। स्याद्वाद के खण्डन में अजैन दार्शनिकों का अत्यन्त आग्रह भी किसी विशेषता को सूचित करता है। जिसमें कोई विशेषता नहीं या जो अत्यन्त नगण्य हो उसको भ्रान्त बतला कर प्रमाण देने के निमित्त पंडितों का इतना प्रयास करना नहीं देखा जाता।

जैनधर्म की दूसरी विशेषताओं की आलोचना करने में सबसे पहले अहिंसा का विषय जी में आता है। संसार में सर्वत्र देखा जाता है ऐसा कोई धर्म ही नहीं जिसमें अहिंसा का आदर न किया गया हो। आश्चर्य की बात यह है कि घोर हिंसामय हिन्दू और बौद्ध तन्त्रों में भी अहिंसा की बड़ी प्रशंसा की गई है। वैदिकधर्म में अहिंसा को बड़ा ऊंचा स्थान दिया गया है। वेद मत को मानने वाले महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा की बड़ी प्रशंसा की है, प्रसंग वश वह कहते हैं—जिसके हृदय में अहिंसा का भाव पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है उसके सामने सभी हिंसक जन्तु वैर

छोड़ देते हैं। ॐ अहिंसा का माहात्म्य ऐसा ही है।

बौद्धों के धर्मशास्त्र म भी अहिंसा का स्थान बहुत ऊचा माना गया है। किन्तु जैनशास्त्र में अहिंसा का आसन केवल ऊचे स्थान पर रक्खा गया है इतना ही नहीं है, प्रत्युत अहिंसा के विश्लेषण और व्याख्या के निमित्त इस शास्त्र में जिस रीति का अवलम्बन किया गया है उससे सच मुच बड़ा विस्मय उत्पन्न होता है। किस चित्त की वृत्ति से हिंसा की उत्पत्ति होती है, अहिंसा प्रतिष्ठा करने के लिये किस चित्त वृत्ति का दमन करना पड़ता है, कितने उपायों से कितन प्रकार की अहिंसायें अनुष्ठित होती हैं, हिंसा का कार्य करके भी अनेक लोग किस तरह अहिंसा समझ लेत हैं, एव किस कारण से हिंसा का कार्य न करने पर भी कोइ कोई हिंसा के दोषके भागी बन बैठते हैं। जिस चित्त-वृत्ति म हृदय में हिंसा का बीज बोया जाता है, हिंसा का व्यापार दूर करने के लिए सब से पहले सब उपायों में उसी चित्त वृत्ति का दमन करना मुख्य काम है। इत्यादि, इत्यादि विषयों का वर्णन जिस भाति जैन शास्त्रों में किया गया है, उससे एक तरफ जैसे जैन शास्त्रकारो की सूक्ष्मदर्शिताका परिचय मिलता है वैसे ही दूसरी ओर पाठक का हृदय अहिंसा की ओर

ॐ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः । यो० सू० २-३५

लिख जाता है । ‡ मेरी समझ में चाहे हिन्दू हो चाहे बौद्ध या अन्य धर्मावलम्बी ही क्यों न हो प्रत्येक के लिए जैनशास्त्र के जिस अंश में हिंसा और अहिंसा की व्याख्या एवं विश्लेषण किया गया है वह अंश अवश्य पढ़ने योग्य है । इस अंश में तनिक भी साम्प्रदायिकता या संकीर्णता नहीं है । इसलिए इस अंश को पढ़ने से किसी को अपने धर्म के प्रति विराग उत्पन्न हो इसकी तनिक सी भी शंका नहीं की जा सकती । प्रत्युत इसके पढ़ने से हृदय में अहिंसा की महिमा अर्थात् श्रद्धा स्वयं जाग उठती है । मनोविज्ञान के अनुसार यह अंश दर्शन-जगत में अत्यन्त ऊंचा स्थान पाने के योग्य है ।

दुःख की बात है कि बहुत से लोग जैनशास्त्र के असली अभिप्राय को न समझ कर, जैन शास्त्र में कहे हुए अहिंसा-व्रत को अति कठोर और समाज के लिए हानिकारक समझते हैं । कोई कोई तो अहिंसा के इस आदर्श को भारत के अधःपतन का मुख्य कारण बतलाते हैं । जैनशास्त्र का तात्पर्य जहां तक हम समझ सके हैं, उस में हमारी समझ से

‡ जिसे इस विषय का विस्तार पूर्वक जानना हो वह 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' आदि ग्रन्थों को पढ़े ।

जैनशास्त्र में वर्णित अहिंसा के सम्बन्ध मे इस प्रकार की सब धारणाएँ सच्ची नहीं हैं, बल्कि एक दम भ्रम से भरी पुरी हैं।

इतिहास भी इस धारणा को भ्रम से भरा हुआ बतलाता है। अहिंसा को ही जीवन का आदर्श बना कर जैनधर्मावलम्बी अमोघवर्ष आदि कई एक राष्ट्रकूट वंशीय राजा और अन्यान्य राज समूह बड़े भारी साम्राज्य के अधीश्वर होकर इस संसार में अपनी बहुत उन्नति करके सुयश के साथ नाम भी पैदा करने में समर्थ हुए है। अहिंसा व्रत उन की उन्नति मे बाधा डालने वाला नहीं हुआ।

यद्यपि अहिंसा का महत्त्व युक्त उच्चा आदर्श जैन शास्त्र मे वर्णित है, लेकिन इस आदर्श के अनुरूप कार्य करना समाज के समस्त व्यक्तियों के लिए सम्भव है या इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए पहले से ही सब प्रकार की हिंसा का त्याग करना उचित है, ऐसी बात जैन शास्त्रकारों के विचार में नहीं है। उनका अभिप्राय क्रम क्रम उन्नति करने का है।

इसीलिए वे केवल अहिंसा के विषय मे ही नहीं किन्तु दूसरे दूसरे विषय मे भी अत्यन्त उच्च आदर्श-निर्देश करके

जिस प्रकार जन साधारण उस आदर्श की ओर धीरे धीरे अग्रसर हो सकें, उस की पूरी व्यवस्था कर गये हैं। जैन शास्त्र में संसार से विरत सन्यासी के लिए हिंसा, असत्य, चौर्य्य आदि विषयों से हमेशा अलग रहने का विधान किया है—उन्हें इन विषयों में महाव्रत करने का उपदेश दिया गया है। वही आदर्श उनके जीवन का लक्ष्य है, यह बात अच्छी तरह उन्हें समझाई गई है और उनके हृदय में बैठा भी गई है। किन्तु पहले से ही उस उच्च आदर्श के बिल्कुल योग्य काम करना उनके लिए संभव नहीं होगा, ऐसा विचार करके जैन शास्त्रकारों ने उनके लिए महाव्रत की व्यवस्था न करके अणुव्रत या आंशिक व्रत की व्यवस्था की है—पूरे तौर से न सही, यथासंभव हिंसादि से विरत होने के लिए उन्हें चेष्टा करने के लिए आज्ञा दी है। गृहस्थ के अनुष्ठान के बारे में इस 'अणुव्रत' शब्द का व्यवहार करके जैनशास्त्रकारों ने स्पष्टरूप से गृहस्थ को समझाने की चेष्टा की है कि यह व्रत अणुमात्र है, ये उन के जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता, महाव्रत ही उनके जीवन का लक्ष्य है। अस्तु व्रत महाव्रत अनुष्ठान करने के उपयोगी सोपान [सीढी] मात्र हैं।*

---

* अणुव्रत और महाव्रत का विस्तार से विवरण हमारे लिखे 'जैन विराग' प्रबन्ध में देखिए। (भारतवर्ष) १३११ अग्रहायण पृ० ८०

अतएव इस अणुव्रत की व्यवस्था रहने से एक ओर जैसे गृही के लिए जैनधर्म का अवलम्बन करके भी ससार-यात्रा निर्विघ्न निर्वाह करना असभव नहीं हो जाता, एक ओर जैसे सासारिक सब प्रकार उन्नति के पथ उनके लिए खुले रहते हैं, वैसे ही दूसरी ओर जैनधर्म के आदर्श महाव्रत की कठोर नियमावली के पालन करने में समर्थ होने की आशा नहीं है ऐसा समझ कर साधारण गृहस्थ को जैनधर्म्म के ऊपर विराग होने की आशका नहीं है, वरच धीरता से अणुव्रत का पालन करने से समय पाकर पूर्ण व्रत या महाव्रत पालन करने की उपयोगिता को पाकर हम भी जीवन को सफल कर सकते हैं, यह उत्साह उनके हृदय में जागृत रह कर उन्हें अच्छे मार्ग की ओर खींच ले जायगा, ऐसी आशा करना युक्ति से रहित नहीं है। इसलिए जैन शास्त्रोक्त यह अणुव्रत का विधान भी जैनधर्म की एक कम विशेषता नहीं है।

वस्तुत केवल महाव्रत के विषय में ही नहीं, प्रत्युत जीवन का जो चरम लक्ष्य है-उस मोक्ष का आदर्श भी जैन-शास्त्रकारों ने सर्वदा सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित करने की चेष्टा की है-जिससे कि कोई अपने जीवन के चरम लक्ष्य को भूलकर दूसरे रास्ते पर न दौड़े और उसी चरम

लक्ष्य मोक्ष को पाने के लिए व्यग्र हो उठे। इसकी व्यवस्था करने में भी जैन शास्त्रकारों ने किसी प्रकार की कोई त्रुटि नहीं की है। जैन शास्त्रोक्त देव पूजा का विधान ही इस व्यवस्था की सूचना देता है। जैनों के प्रधान उपास्य देवता तीर्थंकर गण मानव रूप में ही पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे किन्तु वे लोग तपस्या आदिके प्रभावसे कर्म-बन्धनको छिन्न भिन्न करके मोक्ष पद को प्राप्त हो गये हैं। इस तरह मुक्त परमात्माकी पूजा का विधान करनेसे मालूम होता है कि जैनाचार्योंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है—कि ये तीर्थंकर ही प्रत्येक गृहस्थ के आदर्श-स्वरूप हैं और प्रत्येक को ही उनके अवलम्बित पथ का अनुसरण करके उन्हीं की भांति मोक्ष पाने के लिए यत्नवान होना चाहिए। तीर्थंकर गण के वैराग्य-लाभ और मोक्ष प्राप्ति की कथा को याद करके जिन उत्सवों के अनुष्ठान करने की सुव्यवस्था जैन शास्त्रकारों ने की है, उससे भी यही धारणा दृढ होती है। फिर भी पूजा के समय जैनों की जिन सब विषयों की कामना करने की व्यवस्था देखी जाती है, उससे भी साफ विश्वास होता है कि जैन शास्त्रकार प्रत्येक के हृदय में सदा के लिये उसके जीवन के चरम लक्ष्य की कथा ज्यों की त्यों बनाये रखना चाहते हैं। पूजा, अर्चा आदि के समय जैनों के पुत्र, पौत्र, धन, ऐश्वर्य और अक्षय स्वर्गलाभ

आदि कामनाओं के करने का नियम नहीं है प्रति दिन के कर्तव्य-देव पूजा के समय भी वे लोग मोक्ष प्राप्त करने के अनुकूल विषय के अतिरिक्त किसी दूसरे विषय की कामना नहीं करते। देवता के उद्देश्य से पुष्प आदि चढ़ाते समय भी वे लोग मुक्ति-लाभ के अनुकूल किसी न किसी विषय की कामना करते रहते हैं।* मोक्ष-लाभ हिन्दू और बौद्ध दार्शनिकों के मत में भी जीवन का चरम लक्ष्य है। किन्तु इस चरम लक्ष्य को सर्वदा ही सर्वसाधारण के हृदय में जागृत रखने की व्यवस्था करके जैनाचार्यों ने जैनधर्म की एक विशेषता सम्पादन की है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

अब जैनधर्म की एक और विशेषता को लिखकर इस प्रबन्ध का उपसंहार किया जायगा।

कर्मवाद भारतीय दर्शनों की एक विशेषता है। भारतीय दार्शनिक लोग एक रूप से सभी मनुष्य के सुख दुःख आदि को उसके किए हुए शुभाशुभ कर्म का फल बतलाते हैं। किन्तु इस विषय में किसी का भी वैसा कोई विशेष मतभेद न रहने पर भी कर्म और उसके

---

* बंगीय साहित्य पत्रिका (१३२१) ११८—१२६ पृष्ठों पर प्रकाशित मेरा लिखा हुआ "जैन दिगेर दैनिक षट्कम" प्रबन्ध का "देव पूजा" शीर्षक भाग देखिए।

विविध फला की जैसी विस्तृत आलोचना जैन दर्शन म देखने को मिलती है, वैसी आलोचना मेरी समझ में दूसरे किसी भी देश म नहीं ह। और भी ऐसे एक अति प्रयोजनीय विषय की विस्तृत आलोचना की यथेष्ट उपयोगिता है। इसी से जैन दार्शनिकों ने कर्म के विविध भेद–किस तरह कौन कर्म जीव में आश्रुत [या आगत] होता है किस कर्म का विपाक कैसा होता है, इन सब बातो की अत्यन्त विशद और विस्तृत रूप से आलोचना करके जन साधारण का बडा उपकार किया है। कर्म के सबध में ऐसी दार्शनिक आलोचना से जन साधारण विशेष विवेचना करके असत् कर्म का त्याग और सत् कर्म को मनम धारण करगे ऐसी सम्भावना की जाती है। इस प्रकार दार्शनिक और शृखलाबद्ध आलोचना के बिना जन साधारण का इस्य आकृष्ट करना सम्भव नहीं है। इसलिए कर्म के सबध म इस विस्तृत आलोचना को भी जैनधर्म की एक विशेषता कहा जा सकता है।

स्थूल दृष्टि से जैनधम म जो सब विशेषताय देखी जाती हैं, उनमें से हर एक के सबध में संक्षेप आलोचना की गइ है। समस्त विशेषताओ के सबध में बडी भारी आलोचना करना इस छोटे से प्रबन्ध में कभी सम्भव नहीं है। और भी किम धर्म

की क्या विशेषता है? इस बातका उस धर्म के शास्त्रों को ही पढ़कर पूर्णरूप से निरूपण करना सम्भव है।

किसी धर्म की विशेषता का निरूपण करने के लिए उस धर्म के किस विषय का किस दूसरे धर्म के ऊपर प्रभाव पड़ा है, किस दूसरे धर्म ने इस धर्म से कौनसा विषय ग्रहण किया है, पहले निपुणता के सहित इसकी ही समालोचना का करना उचित है। ऐसा करने से उस धर्म की विशेषता सहज में ही निर्धारित हो सकती है। यह विषय अवश्य ही बहुत बड़ा है, ऐसे विषय की आलोचना के थोड़े परिश्रम या थोड़े ही समय में सुसपन्न होने की आशा नहीं। बहुत समय तक और बहुत परिश्रम से ही इस विषय में सफल होने की आशा की जा सकती है।

अतएव जैनधर्म की विशेषता निर्धारित करने के लिए ऐसी आलोचना का विशेष प्रयोजन है। वर्तमान हिन्दू धर्म या बौद्धधर्म जैनधर्म के निकट किस विषय में कहा तक ऋणी हैं इसकी आलोचना अवश्य होनी चाहिए—जैनधर्म का प्रभाव हिन्दू-धर्म और बौद्ध आदि धर्मों के ऊपर कितना पड़ा है इसको विचार करके देखना चाहिए। हिन्दू और बौद्ध

धर्म के ऊपर जैनधर्म का किसी तरह का प्रभाव पड़ना सभव नहीं है, ऐसी धारणा करना ठीक नहीं है । दो धर्म एक ही साथ में अर्थात् एक ही स्थान में, एक ही काल में या कुछ आगे पीछे वर्तमान रहने पर उनका एक दूसरे के द्वारा प्रभावित होना एक दम स्वाभाविक है–इस तरह प्रभावित नहीं होना ही आश्चर्य की बात है । ऐतिहासिकों की खोज से वर्तमान हिन्दूधर्म के किस किस विषय पर बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा है इसका परिचय निश्चित रूप से मिला है–इसी प्रकार बौद्धों के महायान सम्प्रदाय के ऊपर हिन्दू-धर्म का पूर्ण रूप से प्रभाव पड़ने का भी बहुत पक्का प्रमाण मिला है । यहाँ तक कि किसी २ के मत में वर्तमान हिन्दुओं के किसी किसी आचार के ऊपर मुसलमानों के धर्म का भी स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है । इसलिए परस्पर में इस प्रकार भाव आदि का आदान-प्रदान (अदला बदला) होना असम्भव या आश्चर्य नहीं है ।

बौद्ध सम्राट् महाराज अशोक ने जो धर्म-प्रचार के लिए बहुत परिश्रम किया है ऐतिहासिक गण दिखलाते हैं कि वह उस धर्म पर स्पष्ट रूप से जैनधर्म का प्रभाव वर्तमान था ।*

* 'Asoka' by Dr Bhandarkar l c 127-130

किंतु कोई भी ऐतिहासिक आज तक हिन्दू या बौद्धधर्म के ऊपर जैनधर्म का कैसा प्रभाव पडा है? इस सम्बन्ध में किसी तरह का कोई वैज्ञानिक सिलसिलेवार आलोचना करने में प्रवृत्त हुआ हो, नहीं देखा जाता। और इस विषय में आलोचना के लिए प्रवृत्त होने पर परिश्रम निष्फल होगा, ऐसा नहीं जान पड़ता।

मेरी समझ में बंगाल में और समस्त पूर्व-भारत में ऐसा आलोचना शीघ्र आरम्भ करने का अत्यन्त प्रयोजन है। इस समय भारत के इस खंड में जैन-धर्मावलम्बियों की संख्या कम होने पर भी यही प्रदेश प्राचीन काल में जैन धर्मावलम्बियों का प्रधान कर्म क्षेत्र था और अतीत काल में इसी प्रदेश में बौद्धधर्म यथेष्ट विस्तृत हुआ यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती है। जैनों के वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों का पुराण वर्णित इति वृत्त पढ़ने से मालूम होता है कि उनमें से अनेक लोग भारत के पूर्व खण्ड में ही उत्पन्न हुए तथा विहार और मोक्ष लाभ किया, यही प्रदेश उनके कार्यों का प्रधान केन्द्र था। अतएव उन महापुरुषों के प्रचार किए हुए धर्म के भाव से इस प्रदेश के धर्म समूह अनुप्राणित नहीं हुए, ऐसा कौन कह सकता है? उनके प्रचारित जो धर्म,

काल क्रम से भारतवर्ष के अधिकांश स्थल में फैल गए, वे इस प्रदेश में किसी भी चिन्ह को न छोड़ कर लुप्त हो गए, यह बात विश्वास के योग्य कदापि नहीं।

उसके बाद परवर्ती युग की कथा की आलोचना करने पर देखा जाता है कि एक समय में दक्षिण भारत में जैनधर्म विशेष बलवान हो उठा था। एक समय वह था जब कि भारत में जिन राष्ट्रकूट वंश के नर-पतियों ने यथेष्ट प्रसिद्धि पाई थी, उन में से अनेकों ने जैनधर्म ग्रहण किया था वैसे प्रबल पराक्रमी राजाओं के द्वारा अवलम्बित धर्म स्थानीय हिन्दू आदि धर्म के ऊपर अपनी कोई छाप लगा गया है कि नहीं, इसका अनुसंधान करना आवश्यक है।

फलतः आशा की जाती है कि यदि दक्षिण भारत और पूर्व भारत में प्रचलित हिंदू आचार आदि और जैनधर्म के शास्त्रीय ग्रंथों की एक ही जगह आलोचना की जाय तो जैन धर्म की विशेषता विषयक अनेक अज्ञात बातें प्रकट हो जायगीं। वास्तव में नवीन और प्राचीन भारत के समग्र धर्म और मतों की तुलना-मूलक ऐतिहासिक आलोचना करने पर भारतीय धर्मेतिहास के अनेक अंधकार से घिरे हुये अंश आलोकित हो जायगे इसमें संदेह नहीं, और साथ ही साथ प्रत्येक

धर्म की विशेषतायें भी प्रस्फुटित हो उठेंगी।

जो हो इस प्रबन्ध को और अधिक बढ़ाकर पाठकों के धैर्य्य की सीमा का अतिक्रम करना उचित नहीं है। यदि भगवान् की इच्छा होगी तो अवसर मिलने पर भविष्य में जैन साहित्य की (जैन-पुराण की) विशेषता की आलोचना करने की इच्छा है।

❀ इति ❀